अनुप्रास अलंकार

'अनुप्रास' एक शब्दालंकार है। वर्णों की आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं। या, रस के अनुकूल ~~पास-पास~~ वर्णों का पास-पास प्रयोग 'अनुप्रास' अलंकार है। दूसरे शब्दों में वर्णों के साम्य को अनुप्रास कहते हैं।

हिन्दी साहित्यकोश में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है – "अनु = वर्णनीय रस के अनुकूल्य, प्र = प्रकर्ष या निकटता, आस = बार-बार रखा जाना, अर्थात् रस की अनुकूलता के अनुसार वर्णों का बार-बार और पास-पास प्रयोग" जैसे –

भगवान! भागें दुख, जनता देश की फूले-फले।

इसमें 'भ' और 'ग' (भ-ग) - यह वर्ण-समूह दो बार आया है। इसी प्रकार अंत में 'फ' और 'ल' (फ-ल) - यह वर्ण समूह भी दो बार आया है। यह दो वर्णों का अनुप्रास है।

'अनुप्रास' के मुख्य पाँच भेद किए जाते हैं –

1. छेकानुप्रास
2. वृत्त्यनुप्रास
3. श्रुत्यनुप्रास
4. अन्त्यानुप्रास
5. लाटानुप्रास

छेकानुप्रास

अनेक व्यंजनों की एक बार स्वरूप और क्रम से आवृत्ति को छेकानुप्रास कहते हैं।

छेक का अर्थ है विदग्ध या चतुर और उन्हें यह अलंकार प्रिय है, अतः इसे छेकानुप्रास कहते हैं।

छेकानुप्रास में वर्णों की आवृत्ति स्वरूपतः तथा क्रमतः - उभयतः होनी चाहिए; जैसे -1.

'कमल कोमल' यहाँ यदि स्वरों को छोड़ दें (अनुप्रास में स्वरों की गणना नहीं होती क्योंकि उनमें कोई चमत्कार नहीं रहता) तो कमल में क म ल और कोमल में भी क म ल बचा रहता है। इन दोनों क म ल का स्वरूप और क्रम एक ही है, आवृत्ति भी एक ही बार हुई है, इसलिए यहाँ छेकानुप्रास मानेंगे।

जैसे - 2.

बंदउँ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥

यहाँ अनेक व्यंजनों - पद पदुम में पद और सुरुचि सरस में सर की स्वरूपतः और क्रमतः एक बार आवृत्ति है।
उदाहरणार्थ - ३.

सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परसु कुधातु सोहाई।

यहाँ पारस परस में छेकानुप्रास है।

वृत्त्यनुप्रास

यदि एक व्यंजन की एक बार या अनेक बार, अनेक व्यंजनों की एक बार या अनेक बार स्वरूपतः अथवा अनेक व्यंजनों की अनेक बार स्वरूपतः - क्रमतः आवृत्ति हो तो वृत्त्यनुप्रास होता है।

वृत्त्यनुप्रास का अर्थ है - वृत्ति के अनुकूल वर्ण - विन्यास। रसानुकूल वर्ण - विन्यास को वृत्ति कहते हैं। वृत्तियाँ तीन मानी गई हैं - उपनागरिका, परुषा और कोमला। इन वृत्तियों का 'रसों' से सीधा सम्बन्ध है। 'उपनागरिका' वृत्ति 'शृंगार', 'हास्य' और करुण रसों की व्यंजना के लिए अनुकूल पड़ती है। इसलिए इसमें सानुनासिक न, म आदि तथा ट, ठ, ड, ढ वर्णों को छोड़कर शेष सारे वर्णों का प्रयोग होता है। 'परुषा' वृत्ति 'वीर', 'रौद्र' और भयानक' रसों के अनुकूल पड़ती है। इसमें ट, ठ, ड, ढ तथा द्वित्व वर्णों की बहुलता होती है। 'कोमला' वृत्ति 'शृंगार', 'शांत' और 'अद्भुत' रसों के अनुकूल पड़ती है। इसमें माधुर्य और ओज व्यंजक वर्णों को छोड़कर शेष वर्णों का विन्यास किया जाता है।

उपनागरिका वृत्ति के अनुकूल अनुप्रास

'कंकन किंकिनि नुपूर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥

परुषा वृत्ति के अनुकूल अनुप्रास

'मर्कट विकट भट जुटत कटत न लटत तनु जर्जर भये।'

कोमला वृत्ति के अनुकूल अनुप्रास

'सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह से बिकसे।'

श्रुत्यनुप्रास

जहाँ पर एक ही उच्चारण स्थान से उच्चरित होने वाले वर्णों की समानता हो, वहाँ श्रुत्यनुप्रास होता है। जैसे-

'तुलसिदास सीदत निसिदिन देखत तुम्हारि निठुराई।'

इसमें ये दन्त्य अक्षर आये हैं -

त, ल, स, द, स, स, द, त न स द न द त त न

दूसरे शब्दों में जब श्रुति की आवृत्ति हो, अर्थात् जब एक स्थान से उच्चारण होनेवाले बहुत-से वर्णों का प्रयोग किया जाय।

उदाहरणार्थ —

दिनांत था, थे दिननाथ डूबते।
सधेनु आते गृह ग्वाल-बाल थे॥

इसमें ये दन्त्य अक्षर आए हैं -

द न त थ थ द न न थ त।
स ध न त ल ल थ॥

अन्त्यानुप्रास

छन्द के अंतिम चरण में स्वर-व्यंजन की समता अन्त्यानुप्रास कहलाती है। अन्त्यानुप्रास का तात्पर्य है - किसी पद्य के चरणों के अंत में मिलनेवाली 'तुक' की समानता के फलस्वरूप सामने आनेवाला अनुप्रास।

दूसरे शब्दों में जब दो या अधिक शब्दों या वाक्यों या छन्दों के चरणों के अंत में अंतिम दो स्वरों की बीच के व्यंजन सहित (यदि हो तो), आवृत्ति हो।

उदाहरणार्थ —

मेरे मन के मीत मनोहर।
तुम हो प्रियवर, मेरे सहचर॥

ऊपर की दोनों पंक्तियों के अंत में 'र' वर्ण की समानता है, अतः अन्त्यानुप्रास है।

उदाहरणार्थ —

जिसने ~~हमको~~ हम सबको बनाया बात ही बात में।
वह कर दिखाया कि जिसका भेद किसी ने न पाया।

यहाँ बनाया, दिखाया और पाया शब्दों के अंत में बीच के य के सहित अंत के दो स्वरों (आ, आ) की आवृत्ति हुई है।

उदाहरणार्थ –

कुन्द इन्दु सम देह, उमा-रमन करुना अयन।
जाहि दीन पर नेह, करहु कृपा मर्दन मयन॥

लाटानुप्रास

तात्पर्य मात्र के भेद से शब्द और अर्थ दोनों की पुनरुक्ति को लाटानुप्रास कहते हैं।

या, 'लाटानुप्रास' में शब्द-अर्थ की आवृत्ति की जाती है (दुहराया जाता है) और इस आवृत्ति में तात्पर्य मात्र का (केवल कहने के ढंग का) भेद होता है।

दूसरे शब्दों में – जहाँ पर शब्द और अर्थ एक ही रहते हैं परन्तु अन्य पद के साथ अन्वय करते ही तात्पर्य या अभिप्राय भिन्न रूप से प्रकट होता है, वहाँ लाटानुप्रास होता है।

लाटानुप्रास को पदानुप्रास भी कहते हैं। इसमें वर्णों की नहीं शब्दों या पदों की आवृत्ति होती है। इसलिए इसे शब्दानुप्रास भी कहते हैं। इस आवृत्ति में पदों का अर्थ तो एक ही होता है किन्तु अन्वय करने पर तात्पर्य में भेद हो जाता है। लाट देश (दक्षिण गुजरात) के विदग्ध लोगों को विशेष रूप से प्रिय होने के कारण इसे लाटानुप्रास कहते हैं। उदाहरणार्थ –

पंकज तो पंकज, मृगांक भी है मृगांक री प्यारी।
मिली न तेरे मुख की उपमा, देखी वसुधा सारी॥

यहाँ 'पंकज' की आवृत्ति है–पहले पंकज शब्द का साधारण अर्थ कमल है और दूसरे कमल शब्द कीचड़ आदि जैसे असुन्दर स्थल से उत्पन्न, अतः विशेषताहीन कमल। वैसे ही साधारण अर्थ है पहले मृगांक का – चन्द्रमा तथा दूसरे मृगांक का अर्थ है कलंकादियुक्त चन्द्रमा। इस प्रकार शब्द तथा अर्थ की पुनरुक्ति होने पर भी दोनों के तात्पर्य में भिन्नता के कारण यहाँ लाटानुप्रास है।

उदाहरणार्थ –

पूत सपूत तो क्यों धन संचै?
पूत कपूत तो क्यों धन संचै?

यहाँ 'कपूत-सपूत' को छोड़ शेष शब्द-अर्थ को दुहराया गया है और इस दुहराने में 'तात्पर्य' मात्र का भेद है।

तद्गुण

अपने गुण को छोड़कर उत्कृष्ट गुणवाली दूसरी वस्तु के गुण को ग्रहण करना तद्गुण अलंकार है।

तद्गुण का अर्थ है उसका (दूसरे का) गुण। इसमें कोई वस्तु अपना गुण छोड़कर अपने से उत्कृष्ट वस्तु का गुण ग्रहण करती है। इसमें अपना गुण छोड़कर दूसरे का गुण ग्रहण करना आवश्यक है।

हौं रीझी लखि रीझिहौं, छबिहिं छबीले लाल।
सोनजुही सी होत दुति, मिलत मालती माल॥

यहाँ चमेली की माला नायिका के अंग से मिलकर सोनजुही-सी दिखती है अर्थात् वह अपना श्वेत गुण त्यागकर नायिका की सुनहली कान्ति ग्रहण कर रही है।

लरवत नीलमनि होत उनलि, कर विद्रुम दिखरात।
मुकता को मुक्ता नहुरि, लरवौं तोहि मुसकात॥

मोती पर जब नायिका की दृष्टि पड़ती है तो वह नेत्रों की नीलिमा से नीला हो जाता है, हाथ में आने पर उसकी लाली ग्रहण कर वह मूँगे सा दिखाई देता है और नायिका के हँसने पर दाँतों की उजली दुति ~~उत्पन्न होने से~~ पड़ने से फिर मोती का मोती हो जाता है। यहाँ मोती जिस-2 उत्कृष्ट गुणवाले के समीप जाता है, उसका गुण ग्रहण कर लेता है।

मीलित

अनुरूप वस्तु के द्वारा किसी वस्तु का छिप जाना मीलित अलंकार है। मीलित का अर्थ है मिल जाना। इसमें कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु से इस प्रकार मिल जाती है कि उसका स्वरूप अलग दृष्टिगोचर नहीं होता।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जहाँ दो समान गुण-धर्म वाली वस्तुएँ परस्पर इस प्रकार मिल जाएँ कि एक-दूसरे की पहचान ही न रहे वहाँ मीलित अलंकार होता है; जैसे -

अधर पान अंजन नयन, लगा महावर पाय।
सिय तन यह दरसत नहीं, अंगन रहे समाय॥

सीता ने पान खा रखा है, आँखों में सुरमा लगा रखा है और पैरों में महावर रचा रखा है, किंतु पान, सुरमा और महावर सीता

के होंठ, नेत्र तथा पैरों में इस प्रकार लगा गए हैं कि उनका अलग देखना असंभव-सा हो गया है। अतः यहाँ मीलित अलंकार है।
उदाहरणार्थ -

पानपीक अधरान में, सखि! लखी नहीं जाय।
कजरारी अँखियान में, कजरा री! न लखाय॥

यहाँ नायिका के अधरों की स्वाभाविक लालिमा में पान के रंग का और कजरारी आँखों में कज्जल के रंग का मिलकर छिप जाना कहा गया है, अतः मीलित है।

तुल्ययोगिता

अनेक प्रस्तुतों अथवा अनेक अप्रस्तुतों का एक धर्म से संबंध बताना तुल्ययोगिता अलंकार है।

तुल्ययोगिता का अर्थ है तुल्य (समान) की योगिता (सम्बन्ध)। समान के संबंध का तात्पर्य यह है कि जहाँ उपमेय हो वहाँ केवल उपमेय ही रहें और जहाँ उपमान हो वहाँ केवल उपमान ही रहें, उपमेय और उपमान का मिश्रण नहीं होना चाहिए; वैसा होने से तुल्य का योग न होकर अतुल्य का योग हो जाएगा क्योंकि उपमेय और उपमान भिन्न पदार्थ हैं। इसमें केवल कई प्रस्तुतों को एक साथ रखकर उनका एक धर्म से संबंध दिखाते हैं।

अनेक प्रस्तुतों का एकधर्म संबंध -

मानहु मुख दिखरावनी, दुलहिनि करि अनुराग।
सास सदन, मन ललन हूँ, सौतिन दियो सुहाग॥

यहाँ नयी दुलहिन को मुखदेखी के रूप में, सास घर, प्रियतम हृदय और सौतिनें सुहाग सौंप देती हैं। ये सभी प्रासंगिक और 'दियो' एक धर्म से संबद्ध हैं।

अनेक अप्रस्तुतों का एक धर्म संबंध -

वारौं बलि तो दृगनि पै, अलि, खंजन, मृग, मीन।
आधी डीठि चितौनि जिन, कियो लाल आधीन॥

यहाँ नेत्र वर्णन के प्रसंग में अलि, खंजन, मृग और मीन सभी अप्रस्तुतों का 'वारौं' इस एक धर्म से संबंध कहा गया है, अतः तुल्ययोगिता है।

दीपक

प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एक धर्म से संबंध दीपक अलंकार है। जिस प्रकार एक स्थान पर रखा हुआ दीपक चतुर्दिक अपना आलोक बिखेर-कर सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार 'दीपक अलंकार' में साधारण धर्म प्रस्तुत और अप्रस्तुत से अन्वित होकर दोनों को प्रकाशित करता है। दीपक के गुणसाम्य के आधार पर इस अलंकार को भी दीपक कहते हैं।

चितवन भौंह कमान, गढ़रचना तरुनी अलक।
तरुनी, तुरंगम, तान, आधु बँकाई ही बढ़ै॥

यहाँ कोई सखी किसी नायिका को मान करने - बिल्कुल भोली-भाली सीधी-सादी न बने रहने, अपने अन्दर वक्रता लाने - की शिक्षा दे रही है और प्रस्तुत तरुणी के साथ उन सारी अप्रस्तुत वस्तुओं के भी नाम गिना जाती है जिनका महत्त्व टेढ़ेपन से बढ़ता है। चितवन, भौंह, कमान, गढ़ का निर्माण, अलक, केश, तरुणी, घोड़ा और तान (संगीत की) ~~इनका~~ इनका मुल्य बँकाई (वक्रता) से ही बढ़ता है। तो, यहाँ केवल तरुणी प्रस्तुत और शेष अप्रस्तुत है। पर प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों का, 'वक्रता' इस एक गुण से, संबंध-कथन होने से दीपक अलंकार है।

प्रतीप

प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना देना प्रतीप अलंकार है। प्रतीप का अर्थ है - उल्टा (विपरीत)। इस अलंकार में उपमेय-उपमान का संबंध उलट दिया जाता है। उपमा अलंकार में प्रसिद्ध उपमान से उपमेय की समता दिखाते हैं। यही उपमेय-उपमान का स्वाभाविक और प्रसिद्ध संबंध है पर प्रतीप में इसके विपरीत उपमेय के ही सदृश उपमान को कहा जाता है। जैसे, साधारणतः कहते हैं कि 'चन्द्र-सा मुख है' तो यहाँ उपमा होती है और यदि इसे ही उलटकर कहें कि 'मुख-सा चन्द्र है' तो यह प्रतीप का उदाहरण हो जाता है। इसका तात्पर्य रहता है उपमेय का अतिशय उत्कर्ष सूचित करना। उपमेय-उपमान का सम्बन्ध विपर्यय के कारण ही इसे प्रतीप कहते हैं।

कुछ आलंकारिकों ने प्रतीप के पाँच भेद माने हैं -

1. प्रथम प्रतीप –

प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना देना –

तो पद से अनुमानि, बरन अमल कोरे कमल।
थाही ते सनमानि, अवतंसित मोहन करे ॥

राधा के चरणों के समान कमलों को समझकर कृष्ण ने उन्हें कर्णा-भरण बनाया। यहाँ चरण से उपमा देकर प्रसिद्ध उपमान कमल को उपमेय बनाया गया है, इसलिए प्रतीप है।

2. द्वितीय प्रतीप –

प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के सदृश कहकर वास्तविक उपमेय का अनादर करना।

छिपा रही घूँघट में सुनि सुन्दरि, क्या अपना आनन तू?
आनन सा ही चन्द्र चमकता, ऊपर फेर नयन तू!

"जिस मुख को अलौकिक शोभासम्पन्न समझकर तू घूँघट में छिपा रही है उसी के समान यह चन्द्रमा ऊपर चमक रहा है, जरा देख भी! फिर यह नाज कैसा कि तेरा मुख अद्वितीय है।" मुख के समान चन्द्र को कहकर मुख का अनादर किया गया है।

3. तृतीय प्रतीप –

प्रसिद्ध उपमेय को उपमान के सदृश कहकर प्रसिद्ध उपमान का अनादर करना।

अवनि, हिमाद्रि, समुद्र! जनि करहु वृथा अभिमान।
सान्त, धीर, गंभीर हैं, तुम सम राम सुजान ॥

यहाँ प्रसिद्ध उपमेय राम को उपमान - अवनि, हिमाद्रि और समुद्र - के सदृश बताकर इन तीनों उपमानों का अनादर किया गया है।

4. चतुर्थ प्रतीप –

उपमान को उपमेय की उपमा के अयोग्य कहना।

बहुरि बिचार कीन्ह मन माहीं।
सीय बदन सम हिमकर नाहीं ॥

यहाँ भी 'सीता के मुख के समान चन्द्रमा नहीं है' - यह कह कर उपमा के लिए उसकी अयोग्यता कही गयी है।

1. प्रथम प्रतीप -

प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना देना -

तो पद से अनुमानि, तरुन अमल कोरे कमल।
याही ते सनमानि, अवतंसित मोहन करे॥

राधा के चरणों के समान कमलों को समझकर कृष्ण ने उन्हें कर्णाभरण बनाया। यहाँ चरण से उपमा देकर प्रसिद्ध उपमान कमल को उपमेय बनाया गया है, इसलिए प्रतीप है।

2. द्वितीय प्रतीप -

प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के सदृश कहकर वास्तविक उपमेय का अनादर करना।

छिपा रही घूँघट में सुन्दरि, क्या अपना आनन तू?
आनन सा ही चन्द्र चमकता, ऊपर फेर नयन तू!

"जिस मुख को अलौकिक शोभासम्पन्न समझकर तू घूँघट में छिपा रही है उसी के समान यह चन्द्रमा ऊपर चमक रहा है, जरा देख भी! फिर यह नाज कैसा कि तेरा मुख अद्वितीय है।" मुख के समान चन्द्र को कहकर मुख का अनादर किया गया है।

3. तृतीय प्रतीप -

प्रसिद्ध उपमेय को उपमान के सदृश कहकर प्रसिद्ध उपमान का अनादर करना।

अवनि, हिमाद्रि, समुद्र! जनि करहु वृथा अभिमान।
सान्त, धीर, गंभीर हैं, तुम सम राम सुजान॥

यहाँ प्रसिद्ध उपमेय राम को उपमान - अवनि, हिमाद्रि और समुद्र - के सदृश बताकर इन तीनों उपमानों का अनादर किया गया है।

4. चतुर्थ प्रतीप -

उपमान को उपमेय की उपमा के अयोग्य कहना।

बहुरि बिचार कीन्ह मन माँही।
सीय बदन सम हिमकर नाहीं॥

यहाँ भी सीता के मुख के समान चन्द्रमा नहीं है - यह कहकर उपमा के लिए उसकी अयोग्यता कही गयी है।

5. पंचम प्रतीप -

उपमान का कैमर्थ्य द्वारा आक्षेप या उसकी निष्फलता कहना। कैमर्थ्य का रूप है - 'इसका क्या प्रयोजन, उसकी क्या आवश्यकता'; जैसे - 'मुख के रहते चन्द्र की क्या आवश्यकता है?'

तेरा मुख शोभित यहाँ, उदित हुआ क्यों चन्द्र ?

यहाँ तेरे मुख के रहते चन्द्रमा की क्या आवश्यकता है अर्थात् मुख ही चन्द्र का कार्य कर रहा है - इस प्रकार उपमान का कैमर्थ्य से आक्षेप है।

प्रतीप के पाँच भेदों में संक्षेप में निम्नोक्त प्रधान बातें रहती हैं, जिन्हें मनोगत कर लेने से भेदों को याद करना सुगम होगा -

1. उपमान को उपमेय बनाना।
2. उपमेय का अनादर।
3. उपमान का अनादर।
4. उपमान की अयोग्यता।
5. उपमान की व्यर्थता।

व्यतिरेक

उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष-वर्णन व्यतिरेक अलंकार है। व्यतिरेक का अर्थ है विशेष (वि) आधिक्य (अतिरेक), पर आधिक्य किसका और किसकी अपेक्षा? इसी का लक्षण में उत्तर है। उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य अथवा उत्कर्ष इस अलंकार का विषय है। प्रायः और सभी अलंकारों में उपमेय की अपेक्षा उपमान के उत्कर्ष का वर्णन ~~किसी प्रकार से व्याप्त है~~ रहता है, पर यहाँ उसका विपर्यय पाया जाता है।

उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष-वर्णन चार प्रकार से संभव है-

1. उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष का कारण निर्देश हो।

पावक ~~नेह ते~~ झर ते नेह झर, दाहक दुसह विसेख।
दहे देह वाके परस, याहि दृगन ही देख॥

यहाँ पावक-झर उपमान और नेह-झर उपमेय है पर पावक-झर की अपेक्षा नेह-झर का उत्कर्ष दिखाया गया है क्योंकि जहाँ पावक-झर के स्पर्श से शरीर जलता है वहाँ नेह-झर को देखकर

ही शरीर जलने लगाता है (वियोगियों के लिए अप्रिय होने से) उपमान के अपकर्ष (स्पर्श से शरीर जलना) का और उपमेय के उत्कर्ष (दर्शनमात्र से शरीर जलना) का कारण कहा गया है।

2. उपमेय के उत्कर्ष का कारण निर्दिष्ट हो -

प्रकट तीन हूँ लोक में, अचल प्रभा करि थाप।
जीत्यो 'दास' दिवाकरहिं, श्रीरघुबीर प्रताप॥

यहाँ सूर्य (उपमान) की अपेक्षा रामप्रताप (उपमेय) का उत्कर्ष वर्णन है, साथ ही उपमेय के उत्कर्ष का कारण पूर्वार्द्ध में निर्दिष्ट है - 'तीनों लोकों में प्रकाश करना' और अचल प्रभा को स्थापित करना।

3. उपमान के अपकर्ष का कारण निर्देश हो -

जनम सिंधु, पुनि बंधु बिष, दिन मलीन, सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि, चन्द बापुरो रंक॥

यहाँ चन्द्र की अपेक्षा सीता के मुख का आधिक्य-वर्णन है और उपमान के अपकर्ष के कारणों का पूर्वार्द्ध में शब्दतः कथन है। जिसकी उत्पत्ति खारे समुद्र से, जिसका बन्धु हलाहल (विष); जो दिन को प्रभाहीन और साथ ही सकलंक है, उससे उत्तम कुलोत्पन्न, सद्बन्धुसम्पन्न, अहर्निश प्रभा बिखेरनेवाले और कलंकरहित सीता के मुख की तुलना भला कौन दुर्विदग्ध करेगा?

4. उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष का कारण न कहना अर्थात् दोनों के कारण का अभाव हो - उदाहरणार्थ -

कोमलतर सरसिज से भी तेरा कर है सुकुमारि।

यहाँ उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष इन दोनों में किसी का कारण नहीं कहा गया है। उपमान (सरसिज) की अपेक्षा उपमेय (कर) के उत्कर्ष-वर्णन (कोमलतर कहने) से व्यतिरेक अलंकार है।

जिनके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रवि सीतल लागे॥

यहाँ यश और प्रताप (उपमेय) को चन्द्र और सूर्य (उपमान) से उत्कृष्ट कहा गया है पर उपमेय के उत्कर्ष अथवा उपमान के अपकर्ष का कारण निर्दिष्ट नहीं है।

संसृष्टि

तिलतण्डुल-न्याय से परस्पर निरपेक्ष अनेक अलंकारों की स्वतंत्र स्थिति संसृष्टि अलंकार है।

संसृष्टि का अर्थ है संसर्ग या मेल। मेल का मतलब यहाँ है, अनेक का एकत्रीकरण। अतएव अनेक अलंकारों के मेल (स्वतंत्र स्थिति) को संसृष्टि कहते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, इसमें अलंकारों की तिलतण्डुल-न्याय से परस्पर निरपेक्ष, स्वतंत्र स्थिति होनी चाहिए।

संसृष्टि तीन प्रकार से संभव है -

1. शब्दालंकार-संसृष्टि – जहाँ अनेक शब्दालंकारों की एकत्र स्वतंत्र रूप से स्थिति हो।
2. अर्थालंकार-संसृष्टि – जहाँ अनेक अर्थालंकारों की एकत्र स्वतंत्र रूप से स्थिति हो।
3. उभयालंकार-संसृष्टि – जहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों की एकत्र स्वतंत्र रूप से स्थिति हो।

शब्दालंकार-संसृष्टि

तितली गृह, वन मलय समीर
साँस, सुधि, स्वप्न, सुरभि, सुख, गान
मार-केसर शर मलय समीर
हृदय हुलसित कर पुलकित प्राण
— पंत

यहाँ द्वितीय चरण में 'स' की अनेक बार, चतुर्थ चरण में 'ह' और 'प' की एक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास, 'केसर-शर' में यमक, और उसी चरण में 'मार', 'समीर' में 'मर' इस व्यंजन समूह की एक बार आवृत्ति रहने से छेक है। इस प्रकार वृत्त्यनुप्रास, छेकानुप्रास और यमक की एक ही पद्य में अलग-2 स्थिति होने से शब्दालंकार संसृष्टि है।

अर्थालंकार संसृष्टि

[illegible]
कठिन भी हैं, कोमल हैं गात,
[illegible]
निर्विकार हैं निर्गुण जग-जीवन ।
- पंत

यहाँ प्रथम चरण में उपमा और चतुर्थ चरण (जग-जीवन) में रूपक है। इस प्रकार दो अर्थालंकारों की संसृष्टि है।

शब्दालंकार संसृष्टि

तरनि तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुँ सुहाये ॥

यहाँ प्रथम चरण में 'त' की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास और द्वितीय चरण में उत्प्रेक्षा है तथा दोनों की निरपेक्ष स्थिति है। यहाँ एक शब्दालंकार और एक अर्थालंकार की संसृष्टि है।

संकर

नीर-क्षीर-न्याय से परस्पर मिले अलंकारों को संकर अलंकार कहते हैं।

संकर का अर्थ है स्पष्टतः मिला हुआ-ऐसा मिला कि उसका पृथक्करण न हो सके। संकर अलंकार में तिलतण्डुल न्याय का प्रयोग नहीं होता। इसके तीन भेद होते हैं—

1. अंगांगिभाव संकर ।
2. एकाश्रयानुप्रवेश संकर ।
3. सन्देह संकर

अंगांगिभाव संकर

यदि अनेक अलंकार अन्योन्याश्रित हों तो अंगांगिभाव संकर होता है।

अंग का अर्थ है अप्रधान या गौण और अंगी का प्रधान। इसमें एक अलंकार की सिद्धि से दूसरे अलंकार की सिद्धि होती है।

होता है जहाँ अनेक अलंकारों की प्राप्ति हो और [illegible] के द्वारा भी [illegible] निर्णय न हो सके [illegible] संदेह संकर अलंकार है।

साधक-बाधक-प्रमाण जो संदेह संकर का निवारक है, जो वह किसी विशेष अलंकार को मानने में सहायक हो, अनुकूल हो, उसे उसका साधक और जो उसके विरुद्ध या प्रतिकूल हो, जिससे वह अलंकार न माना जा सके, उसे उसका बाधक कहते हैं।

उदाहरणार्थ उपमा और रूपक को देखें जो सबसे अधिक व्यापक अलंकार हैं। यदि धर्म मुख्यतः उपमेयसिद्ध हो तो उपमा और उपमान-सिद्ध हो तो रूपक माना जाता है।

1. साधक के द्वारा अलंकार निर्णय-

मुख चन्द्र चमकता है।

यहाँ चमकना धर्म लक्षणा द्वारा मुख में भी संगत होने से उपमा का बाधक नहीं है, फिर भी प्रधानतः उपमान (चन्द्र) सिद्ध होने से रूपक का साधक है, अतः यहाँ रूपक ही है, उपमा नहीं। यहाँ केवल साधक के द्वारा संदेह का निवारण हुआ है।

2. बाधक के द्वारा अलंकार निर्णय -

नृप-नारायण! तुम्हें रमा आलिंगन करती।

यहाँ नृप-नारायण में 'नृप के समान नारायण' इस प्रकार उपमा है या 'नृप ही नारायण' यह रूपक ऐसा संदेह है। पर रमा (लक्ष्मी) द्वारा नृप (उपमेय) का आलिंगन असंभव और नारायण (उपमान) का संभव है अतः यह उपमा का बाधक है इस प्रकार यहाँ रूपक है, उपमा नहीं। यहाँ निर्णय बाधक के द्वारा हुआ।

3. साधक-बाधक दोनों के द्वारा अलंकार निर्णय -

वह मुख चन्द्र चूमता है।

यहाँ मुख-चन्द्र में धर्मवाचकलुप्ता उपमा है या रूपक, यह संदेह उपस्थित होता है। दोनों संभव दिखते हैं। पर यहाँ उपमा ही है, रूपक नहीं; क्योंकि चूमना धर्म उपमेय (मुख) के ही अनुकूल है - मुख ही चूमा जाता है, चन्द्र नहीं। अतः चूमना उपमेयसिद्ध होने से उपमा का साधक और उपमान (चंद्र) के प्रतिकूल होने से रूपक का बाधक है। यहाँ साधक-बाधक दोनों हैं।

– यदि पहला अलंकार अलग न हो तो दूसरा भी नहीं टिक सकता। इसलिए इनमें अंग और अंगी, अप्रधान और प्रधान का भाव रहता है।

हौं रीझी लखि रीझिहौ, छबिहिं छबीले लाल।
सोनजुही सी होति दुति, मिलत मालती माल ॥

नायिका जी के शरीर की सुनहली कान्ति से मिलकर चमेली की माला अपनी उज्ज्वलता छोड़ पीतवर्ण हो जाती है, इसलिए वह चमेली के बदले सोनजुही (सोने के रंग अर्थात् पीले रंग की जुही) की माला-सी प्रतीत होने लगती है। अपनी उज्ज्वलता छोड़ शरीर की कान्ति के संपर्क से चमेली की माला के पीतवर्ण होने में तद्गुण अलंकार है। फिर पीत वर्ण हो जाने पर चमेली की माला सोनजुही की माला सी दिखाई पड़ती है, अतः उपमा है। इस प्रकार तद्गुण उपमा का साधक है-तद्गुण के द्वारा ही उपमा की निष्पत्ति होती है। यदि चमेली की माला का वर्ण परिवर्तन हो ही नहीं - वह उजली ही रह जाय तो सोनजुही से (जो पीली होती है) उसकी उपमा कैसे संभव होगी। यहाँ तद्गुण उपमा का साधक होने से अप्रधान - अंग अलंकार है और उपमा साध्य होने से प्रधान अर्थात् अलंकार अंगी। अतः तद्गुण और उपमा का अंगांगिभाव संकर है।

एकाश्रयानुप्रवेश संकर

यदि एक ही आश्रय में अनेक अलंकार स्थित हों तो एकाश्रयानुप्रवेश संकर होता है।

एकाश्रयानुप्रवेश को एकवाचकानुप्रवेश भी कहा जाता है। वाचक का अर्थ है पद या वाक्य। इससे स्पष्ट है कि एक ही स्थल में अनेक अलंकारों की स्थिति को एकाश्रयानुप्रवेश संकर कहते हैं।

बन्दउँ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ॥

यहाँ 'पद पदुम' में छेकानुप्रास और रूपक दोनों हैं, इस प्रकार शब्दालंकार और अर्थालंकार का एकाश्रयानुप्रवेश संकर है।

सन्देह संकर

जहाँ अनेक अलंकारों की स्थिति में यह निर्णय न हो सके कि कौन अलंकार है वहाँ संदेह संकर होता है।

संदेह संकर जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, जैसे स्थल में